शौनककृतम्

ऋग्वेद-प्रातिशाख्यम्

Scanned with CamScanner

(अनुनासिकसंज्ञा)

अनुनासिकोऽन्त्यः ॥१४॥

(अनुनासिकसंज्ञा)

सू० अ०—(प्रत्येक वर्ग का) अन्तिम वर्ण 'अनुनासिक' (nasal) है।

उ० भा०—वर्गे वर्गे चेति वर्तते। प्रतिवर्गम् अन्त्यः वर्णः; (अनुनासिकः—) अनुनासिकसंज्ञः; वेदितव्यः। यथा ङ, ञ, ण, न, म इति। अनुनासिकसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"परेषु स्पर्शोष्वनुनासिकेषु"[2] इति। इयमप्यन्वर्थसंज्ञा। नासिकामनु यो वर्णो निष्पद्यते स्वकीयस्थानमुपादाय स द्विस्थानोऽनुनासिक इत्युच्यते। तथा चोक्तम्—"मुख-नासिकावचनोऽनुनासिकः"[1] इति ॥

टि० (क) इन वर्णों को 'महाप्राण' भी कहा जाता है। प्राण का अर्थ है वायु। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य हो, उन्हें 'महाप्राण' या 'सोष्मन्' (aspirates) कहते हैं। जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु का आधिक्य न हो उन्हें 'अल्पप्राण' (unaspirates) कहते हैं।

---

[1] ६।२ [2] ६।१९ [1] पा० १।१।८

उ० भा० अ०—(इस सूत्र में १।१२ से) "वर्गे वर्गे" की अनुवृत्ति हो रही है। प्रत्येक वर्ग के अन्त्यः=अन्तिम वर्ण को; (अनुनासिकः=) 'अनुनासिक'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—ङ, ञ, ण, न, म। **अनुनासिक**-संज्ञा का प्रयोजन—"**अनुनासिक** 'स्पर्श' परे हों तो ('अननुनासिक' 'स्पर्श' अपने 'यम' हो जाते हैं)।" यह भी अर्थानुसारिणी संज्ञा है। जो वर्ण अपने स्थान के साथ-साथ नासिका से निष्पन्न होता है दो स्थान वाले उस वर्ण को 'अनुनासिक' कहते हैं। वैसा कहा भी गया है—"[मुख और नासिका से बोला जाने वाला (वर्ण) 'अनुनासिक' (-संज्ञक होता है]।"

(पदावसाने प्रथमतृतीयस्पर्शयोर्विकल्पः)

तस्मादन्यमवसाने तृतीयं गार्ग्य स्पर्शम् ॥१५॥

(पद के अवसान में प्रथम और तृतीय स्पर्शों का विकल्प)

सू० अ०—उस (='अनुनासिक') से अन्य 'स्पर्श' को (पद के) अवसान में स्थित होने पर गार्ग्य (वर्ग का) तृतीय ('स्पर्श') (मानता है)।

उ० भा०—"ऊष्मान्तस्थसोष्म"[1] —इत्यत्र प्रथमतृतीयपञ्चमान् स्पर्शान्पदान्तीयान् वक्ष्यति। तत्र प्रथमतृतीयविकल्पार्थमिदमारभ्यते। तस्मात्=अनुनासिकात्=अन्त्यात्स्पर्शात्; अन्यम्; (अवसाने=) पदावसाने; वर्तमानं स्पर्शम् गार्ग्य आचार्यः स्वं तृतीयं मन्यते। यथा—वाग्, षड्, तद्, ककुब्। तस्मादन्यम् इति किम्? तान्, तम्।

उ० भा० अ०—"(विसर्जनीय को छोड़कर अन्य) 'ऊष्म' (-वर्ण), 'अन्तःस्था', ऋकार, 'सोष्म' (-वर्ण) (और चवर्ग पद के अन्त में नहीं आते)" यहाँ (अर्थात् इस सूत्र में) (सूत्रकार) बतलायेंगे कि प्रथम, तृतीय और पञ्चम 'स्पर्श' पद के अन्त में आते हैं। उनमें से प्रथम और तृतीय के विकल्प के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया जाता है। **तस्मात्**='अनुनासिक' से=अन्तिम 'स्पर्श' से; **अन्यम्**=अन्य; **स्पर्शम्**=स्पर्श को; **गार्ग्यः**=गार्ग्य आचार्य; **अवसाने**=पद के अवसान में; वर्तमान होने पर अपने (वर्ग) वाला

टि० (क) अनुनासिकेतर स्पर्शों के उच्चारण के समय कौवा (uvula) तन कर खड़ा हो जाता है और श्वास-नलिका से आई हुई वायु को नासिका-विवर में तनिक भी नहीं जाने देता। इसका परिणाम यह होता है कि मुख के अंगों के स्पर्श के अनन्तर सारी वायु मुख-विवर से बाहर निकल जाती है। 'अनुनासिक' स्पर्शों के उच्चारण के समय कौवा (uvula) तन कर नासिका-विवर को नहीं रोकता जिसके परिणाम-स्वरूप वायु नासिका-विवर से बाहर निकल सकती है। 'अनुनासिक' स्पर्शों के उच्चारण में सम्बद्ध अंगों का स्पर्श तो अन्य 'स्पर्श' व्यञ्जनों के समान मुख में ही होता है किन्तु स्पर्श होने के अनन्तर वायु गूँजती हुई नासिका-विवर से बाहर निकल जाती है। इस प्रकार 'अनुनासिक' स्पर्शों के दो स्थान होते हैं—एक वह जहाँ स्पर्श होता है और दूसरा नासिका।

[1] १२।१

तृतीयम्=तृतीय; मानता है[क] (अर्थात् गार्ग्य के मत से 'वर्ग' का तृतीय 'स्पर्श' ही पद के अ
में आता है, प्रथम 'स्पर्श' नहीं) जैसे—वाग्, षड्, तद्, ककुब्। "उस (='अनुनासिक') से
अन्य ('स्पर्श') को" यह (सूत्र में) क्यों (कहा)? (उत्तर) तान्, तम्[ख]।

प्रथमं शाकटायनः ॥१६॥

सू० अ०—(किंतु) शाकटायन (प्रत्येक 'वर्ग' का) प्रथम ('स्पर्श') (मानते हैं)।

उ० भा०—शाकटायनः आचार्यः प्रथमं मन्यते। यथा—वाक्, षट्, तत्, ककुप्।

उ० भा० अ०—शाकटायनः=शाकटायन आचार्य; (प्रत्येक 'वर्ग' के); प्रथमम्=प्रथम ('स्पर्श') को; (पदान्त में) मानते हैं (अर्थात् शाकटायन के मत से 'वर्ग' का प्रथम 'स्पर्श' ही पद के अन्त में आता है, तृतीय 'स्पर्श' नहीं)। जैसे—वाक्, षट्, तत्, ककुप्॥

(ह्रस्वसंज्ञा)

ओजा ह्रस्वाः सप्तमान्ता स्वराणाम् ॥१७॥

(ह्रस्वसंज्ञा)

सू० अ०—'स्वर'(– वर्णों) में प्रथम सात तक विषम (odd) ('स्वर'-वर्ण) 'ह्रस्व' हैं।

उ० भा०—ओजाः=विषमाः; स्वराणां मध्ये; (ह्रस्वाः=) ह्रस्वसंज्ञाः; वेदितव्याः; (सप्तमान्ताः=) सप्तमपर्यन्ताः। यथा—अ, ऋ, इ, उ इति। ह्रस्वसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्"[१] इति॥

टि० (क) वा० प्रा० १।८५ में पद के अन्त में आने वाले वर्ण के लिये 'पदान्तीय'-संज्ञा का विधान किया गया है। यद्यपि प्रस्तुत सूत्र में 'पदान्तीय' संज्ञा नहीं की गई है तथापि संज्ञा-पटल में आने के कारण इस सूत्र को 'पदान्तीय'-संज्ञा से सम्बद्ध ही माना जा सकता है। कुछ आचार्य वर्गों के प्रथम वर्ण को 'पदान्तीय' मानते हैं और कुछ आचार्य तृतीय वर्ण को। पाणिनि ने "वावसाने" ८।४।५६ के अनुसार दोनों विकल्प स्वीकार किये हैं। गार्ग्य के मत से तृतीय 'स्पर्श' और शाकटायन के मत से प्रथम 'स्पर्श' पद के अन्त में आते हैं। किन्तु ऋग्वेद-प्रतिशाख्य वर्गों के प्रथम वर्णों को 'पदान्तीय' मानकर ही संधियों का वर्णन करता है। पदपाठकार शाकल्य ने भी अपने ऋग्वेद के पदपाठ में प्रथम वर्णों को ही 'पदान्तीय' माना है। इस प्रकार प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानने वाला मत ही मुख्यतः मान्य है।

(ख) यदि पद के अन्त में 'अनुनासिक' को छोड़कर अन्य 'स्पर्श' हो तो उसे गार्ग्य तृतीय मानता है। 'तान्' और 'तम्' ये दो प्रत्युदाहरण हैं। इन पदों के अन्त में 'अनुनासिक' 'स्पर्श' वर्तमान हैं, अतः यहाँ तृतीय 'स्पर्श' होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

---

[१] २।२७

Scanned with CamScanner

उ० भा० अ०—**स्वराणाम्**='स्वर'(– वर्णों) के मध्य में; (**सप्तमान्ताः**=) सप्तमपर्यन्त; **ओजाः**=विषम (odd) (वर्णों) को; (**ह्रस्वाः**=) 'ह्रस्व'-संज्ञक; जानना चाहिये (अर्थात् सप्तमपर्यन्त विषम (odd) वर्णों को 'ह्रस्व' कहते हैं)। जैसे—अ, ऋ, इ, उ। ह्रस्व-संज्ञा का प्रयोजन—"ह्रस्व पूर्व में हो तो (विसर्जनीय) अकार हो जाता है।"

(दीर्घसंज्ञा)

अन्ये दीर्घाः ॥१८॥

(दीर्घसंज्ञा)

सू० अ०—('ह्रस्व' से) अन्य ('स्वर'-वर्ण) 'दीर्घ' हैं।

उ० भा०—ह्रस्वसंज्ञकेभ्यो ये अन्ये स्वरास्ते; (**दीर्घाः**=) दीर्घसंज्ञाः, वेदितव्याः। यथा—आ, ऋ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति। दीर्घसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"दीर्घं ह्रस्वो व्यञ्जने"[१] इति॥

उ० भा० अ०—'ह्रस्व'-संज्ञक ('स्वर'-वर्णों) से जो; **अन्ये**=अन्य 'स्वर'-वर्ण हैं उन्हें; (**दीर्घाः**=) 'दीर्घ'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—आ, ऋ, ई, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ। दीर्घसंज्ञा का प्रयोजन—" 'व्यञ्जन' परे हो तो 'ह्रस्व' दीर्घ (हो जाता है)।"

(अक्षरसंज्ञा)

उभये त्वक्षराणि ॥१९॥

(अक्षरसंज्ञा)

सू० अ०—किंतु दोनों 'अक्षर' हैं।

उ० भा०—य इह ह्रस्वदीर्घसंज्ञाः स्वरा निर्दिष्टाः, यौ च वक्ष्यमाणौ स्वरौ—"धातौ स्वरः कल्पयताल्लृकारः"[२] इति—"तिस्रः प्लुत उच्यते स्वरः"[३] इति लृकारईप्लुतौ एतौ उभये तु; (**अक्षराणि**=) अक्षरसंज्ञाः; वेदितव्याः। यथा—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, ऐ, औ इति; ऌ, ॡ३इति।

ननु कस्मात्प्रकृता एव स्वरा दीर्घा ह्रस्वाश्चोभयग्रहणेन नान्तर्भाव्येते येन व्यवहितावपि ऌकारप्लुतावुभयग्रहणेनान्तर्भाव्येते इति? शृणु; तन्त्रान्तरे—"स्वरोऽक्षरम्"[४] इति स्वरमात्रस्याक्षरसंज्ञा विधीयते। अयमपि—"सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्"[५] इति स्वरस्याक्षरसंज्ञां विधास्यति। न चाक्षरसंज्ञां विनोदात्तादयः स्वरास्तदाश्रयाः स्युः—"त उच्यन्तेऽक्षराश्रयाः"[६] इति वचनात्। किंच गुरुलघुपूर्वाङ्गपराङ्गचिन्तामक्षरस्यैवेदानीं वक्ष्यति। तस्मादक्षरसंज्ञाप्राप्त्यर्थमिह ऌकारप्लुतावुभयशब्देनान्तर्भाव्येते न तु प्रकृता एव ह्रस्वदीर्घाः स्वरा इति। अक्षरसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"यकाराद्यक्षरं परम्"[७] इति।

---

१ ७।१ २ १३।३५ ३ १।३०
४ अथ० प्रा० १।९३; वा० प्रा० १।९९
५ १८।३२ ६ ३।१-२ ७ २।३५

Scanned with CamScanner

उ० भा० अ०—'ह्रस्व' और 'दीर्घ' संज्ञा वाले जो 'स्वर' यहाँ निर्दिष्ट किये गये हैं और—"(जब रेफ लकार हो जाता है तो) 'क्लृप्' धातु में लृकार 'स्वर' (होता है)" (तथा) "'प्लुत' 'स्वर' तीन (मात्राओं) का कहा जाता है" (इन सूत्रों में) जो दो 'स्वर' (लृकार और 'प्लुत' ईकार बतलाये जायेंगे—इन; **उभये**=दोनों को; (**अक्षराणि**=) 'अक्षर'-संज्ञक; जानना चाहिये। जैसे—अ, आ, ऋ, ॠ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ ऐ, औ (और) ऌ, ई३। (प्रश्न) 'उभय' शब्द से प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ'—'स्वर'-वर्णों का ही अन्तर्भाव क्यों नहीं होता, जिससे व्यवहित भी लृकार और 'प्लुत' ईकार का 'उभय' शब्द से अन्तर्भाव किया जा रहा है? (उत्तर) सुनो, दूसरे (प्रातिशाख्य) ग्रन्थ में "'स्वर' 'अक्षर' है" से सभी 'स्वर'-वर्णों की 'अक्षर'-संज्ञा का विधान किया गया है। ये भी (सूत्रकार)—"'व्यञ्जन'-सहित, 'अनुस्वार'-सहित, अथवा शुद्ध भी 'स्वर' (-वर्ण) 'अक्षर' (होता है)" से 'स्वर' (-वर्ण) की 'अक्षर'-संज्ञा का विधान करेंगे। और 'अक्षर'-संज्ञा के विना 'उदात्त' आदि 'स्वर' उन (ऌ और ई३) के आश्रय में नहीं रह सकते (अर्थात् वे 'स्वर'-विहीन हो जायेंगे) क्योंकि (ऐसा) वचन है—"'अक्षर' पर आश्रित उन ('उदात्त' आदि) का ('आयाम' आदि से) उच्चारण होता है।" इसके अतिरिक्त 'अक्षर' के विषय में ही (सूत्रकार) 'गुरु', 'लघु', 'पूर्वाङ्ग' और 'पराङ्ग' का विचार करेंगे। इसलिये इन दोनों की 'अक्षर'-संज्ञा की प्राप्ति के लिये ही यहाँ 'उभय' शब्द के द्वारा लृकार और 'प्लुत' (ईकार) का अन्तर्भाव होता है, प्रकृत 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' 'स्वर' (-वर्णों) का नहीं। **अक्षर**-संज्ञा का प्रयोजन—"यकार से प्रारम्भ होने वाला 'अक्षर' परे हो तो (अकार का 'अभिनिधान' हो जाता है)।"

(गुरुसंज्ञा)

गुरूणि दीर्घाणि ॥२०॥